मैं एक पॉलिटिकल फ़िल्ममेकर हूँ

संजय काक

(नर्मदा बचाओ आंदोलन से लेकर नागरिक अधिकारों के लिए चलने वाले तमाम अभियानों में सक्रिय भागीदारी निभाने वाले डॉक्यूमेंट्री फ़िल्मकार संजय काक से राकेश कुमार सिंह की बातचीत।)

आपको सबसे पहले मैंने नर्मदा घाटी में देखा था, महेश्वर में, शायद 30 मई 1999 की बात है ... आप किसी फ़िल्म की शूटिंग कर रहे थे। तो सबसे पहले आप ये बताइए कि नर्मदा आंदोलन से आपका जुड़ाव कैसे हुआ?

नर्मदा घाटी और फ़िल्म 'वर्ड्स ऑन वाटर' ... ये जो एक तरीक़े का ऐक्टिविस्ट स्फ़ियर है उसमें लोग उसी फ़िल्म से मुझे थोड़ा-बहुत जानते हैं। इस फ़िल्म का एक ख़ास बैकग्राउंड है। 1997 में जब फ़िफ्टीएथ एनिवर्सरी ऑफ़ इंडिपेंडेंस का हल्ला-गुल्ला मच रहा था, हमें कुछ फ़िल्में बनाने के लिए इनवाइट किया गया। 'फ़ाउंडेशन फ़ॉर युनिवर्सल रेस्पॉन्सिबिलिटी' ने छह-सात फ़िल्ममेकर्स को बुलाया था। हर एक को आधे-आधे घंटे की फ़िल्म बनानी थी। मुझे जो थीम दी गयी वो थी डेमॉक्रेसी। कहा गया इस थीम पर आधे घंटे की एक फ़िल्म बनाइए। फ़िल्म तो छोटी थी। बनायी भी गयी ... एक तरह से स्टूडेंट्स के बीच में बहस शुरू करवाने के लिए। तो उसकी शूटिंग मैंने दो जगह की थी। एक पंजाब में जो एक इलेक्शन कैंपेन हो रहा था अर्ली 1997 में और तमिलनाडु में एक दलित रैली में। क्योंकि थीम हमारी डेमॉक्रेसी थी तो शूटिंग के दौरान मुझे कुछ चीज़ें ग़ौर से देखनी थी ... क्या वजह है कि जहाँ पर डेमॉक्रेसी का कोई भी पहलू काम करता नहीं नज़र आ रहा है फिर भी लोगों का इस पर इतना विश्वास क्यों है और वो कहाँ से आता है? संक्षेप में कहें तो, लोकतंत्र में लोगों की आस्था इतनी क्यों है?' और जब हम डेमॉक्रेसी कहते हैं तो हम ज़्यादातर चुनावी लोकतंत्र की बात करते हैं। उस फ़िल्म का टाइटल था 'वन वेपन'।

इस टाइटल के पीछे कोई ख़ास मक़सद ...

हाँ, क्योंकि जब पंजाब में एक दलित मज़दूर कहता है कि हमारे पास बस यही एक हथियार है तो मुझे समझ में नहीं आता कि ये इतना टूटा घिसा-पिटा हथियार है तब भी इसमें ऐसा विश्वास कहाँ से आ रहा है, क्यों आ रहा है? तो मैंने कहा कि इसके ऊपर एक फ़िल्म बनायी जाए कि हमारे देश में - अगर हम अपने आप को डेमॉक्रेटिक कहते हैं और डेमॉक्रेसी चलती है, तो कैसी चलती है ... आम आदमी और सत्ता के बीच रिश्ता क्या है उसको थोड़ा-सा ग़ौर से देखा जाए। फ़िल्म तो कहीं भी बन सकती थी, मतलब केरल में बन सकती थी, तमिलनाडु में बन सकती थी, मणिपुर में बन सकती थी, उड़ीसा में बन सकती थी ...। लेकिन नर्मदा घाटी का एक यह पहलू भी था कि वहाँ एक लंबे अर्से से एक सस्टेन्ड मूवमेंट, एक नॉन-वॉयलेंट स्ट्रगल चला आ रहा था। उसकी सैद्धांतिक दलील थी। तो हमने कहा कि चलिए यहाँ एक रिसर्चर के तौर पर जाएँगे, हफ़्ता भर रहेंगे और देखकर आएँगे कि क्या हो रहा है। ये लगभग 1998-99 की बात है। तब सुप्रीम कोर्ट का वो निर्णय आने वाला था। अंतरिम फ़ैसला आया तो एक बार कई सालों के बाद घाटी में खलबली मच गयी। तो कभी-कभी ऐसा होता है न कि किसी की भी ज़िन्दगी में आप किसी मौक़े पे पहुँचते हैं जहाँ पे आपका कुछ और इंटेशन हो लेकिन वहाँ हालात ऐसे होते हैं कि जिस इंटेशन से आए होते हैं वो सिचुएशन के हिसाब से बदल भी जाती है। हालात आपको घसीट कर ले जाते हैं। मैं ऐसे ही कैमरा साथ ले गया था। पहली बार डिजिटल कैमरा ख़रीदा था वो साथ ले गया था कि कुछ शूट करेंगे। लेकिन वो शूट क्या, एक दो दिन किया। फिर आंदोलन के साथियों ने कहा कि आप कुछ दिन और रुक जाइए, कुछ और भी प्रदर्शन

चल रहा है, इंदौर में। आप वहाँ चलिए। हम वहाँ गए, कुछ और शूट किया एक-दो दिन। फिर एनबीए (नर्मदा बचाओ आंदोलन) में कुछ लोगों से अच्छी दोस्ती हो गयी। उन लोगों ने कहा कि क्या आप कैंपेन फ़िल्म काट सकते हैं हमारे लिए? तो मतलब कुल मिला के कि मक़सद क्या था : कि एक डेमॉक्रेसी जो ग्राउंड लेवल पर काम कर रहा है उसे मैं थोड़ा ग़ौर से देखना चाहता था। लेकिन एक बार गया वहाँ मैं तो क्योंकि आंदोलन में एक नया आक्रोश-सा आया था, इसलिए उसको समझने का प्रयास करने लगा।

तो, आपको एक ऐक्टिविस्ट फ़िल्ममेकर कहा जा सकता है?

हाँ, वही मैं सोच रहा हूँ तब से, जब से आपने मुझसे कहा कि आप बात करना चाहते हैं। 'ऐन ऐक्टीविस्ट फ़िल्ममेकर' जो टर्म है उससे मतलब क्या समझते हैं? क्या है कि किसी भी राजनीतिक आंदोलन में हमारे जो फ़ौरी मुद्दे हैं हमारे समय के उनमें हर क़िस्म के कलाकार, चाहे पोएट हो, पेंटर हो, फ़िल्म मेकर हो – सबकी कुछ न कुछ तो भूमिका बनती है। लेकिन उस भूमिका के दो पहलू हैं, एक है जिसे अर्जेंट रोल कहेंगे। मान लीजिए एक मुद्दा है उसके बारे में किसी को कुछ पता नहीं है, तो क्या हम एक दस मिनट की छोटी-सी वीडियो बना के लोगों को दिखा सकते हैं या जैसे आप आए थे शायद उस दिन बंत सिंह वाले कार्यक्रम में। एक इश्यू है, उसके बारे में लोगों को पता चले कि वो आदमी कौन है, क्या करता है, क्या गाता है। और ये तो एक भूमिका है, क्योंकि टेक्नॉल्जी अब इस स्तर पर आ चुकी है कि हम ये भूमिका अदा भी कर सकते हैं। मैं तो फ़िल्ममेकर्स की ही बात करूँगा। लेकिन ये भी है कि इसके कई पहलू ऐसे हैं जो कि आंदोलन के जो कार्यकर्ता हैं, वो भी ये ख़ुद कर सकते हैं और यही हमारी कोशिश होनी चाहिए। आप लोग तो इसके बारे में सोचते रहते हैं, टैक्टिकल मीडिया में ट्रांसफॉर्म करना चाहिए। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि इसमें फ़िल्ममेकर्स का कोई रोल नहीं है। मुझे लगता है कि बतौर एक फ़िल्ममेकर हम लोगों का बहुत रोल है, लेकिन वो है कि हम अपनी कला, अपनी जो समझ और हमारा जो इंटेलेक्ट है उससे मुद्दे पर ग़ौर करें ... 'बट वी शुड गार्ड आवर इंडिपेंडेंस' (लेकिन हमें अपनी आज़ादी की हिफ़ाज़त के लिए चौकस रहना चाहिए)। तो, मैं कहूँगा कि 'मैं ख़ुद को एक ऐक्टिविस्ट फ़िल्ममेकर नहीं मानता हूँ'। ये नहीं कि मै कतराता हूँ इस टैग से, इसलिए कि 'आई सी माइसेल्फ़ ऐज़ ए पॉलिटिकल फ़िल्ममेकर'। और कोई भी काम कभी भी किया है तो उसको आज की तारीख़ में अगर आप देखेंगे तो आप कहेंगे कि उसमें कुछ तो पॉलिटिक्स है। वो बिल्कुल प्रत्यक्ष नहीं होगी या किसी आंदोलन से जुड़ी नहीं होगी, लेकिन हरेक काम में पॉलिटिक्स तो होती है। हम योगदान करते हैं, हमारा एक रोल है और बनता भी है। लेकिन अपना जो देखने का एक नज़रिया है उसको प्रोटेक्ट करना चाहिए, क्योंकि क्या है कि अपने आप को बिल्कुल आंदोलन का टुकड़ा समझकर आगे चलें तो कई बार क्या होता है कि फ़्लुइड जैसा सिचुएशन होता है। कोई भी मास मूवमेंट, उसके बीच में अगर आप खड़े रहे हों तो आपको भी कभी-कभी किनारा नहीं नज़र आता या कोई दिशा नज़र नहीं आती। तो ज़ाती तौर पर अगर मैं अपनी बात कहूँ कि कोई भी मास मूवमेंट या मूवमेंट या इश्यू हो, उसके साथ-साथ तो चलना है, लेकिन थोड़ा-सा एक क़दम हट के। दिखायी तो पड़े कि भई कहाँ जा रहे हैं, क्या हो रहा है। ये बहुत ज़रूरी है।

नर्मदा बचाओ आंदोलन के बारे में आपकी क्या राय है?

मेरी समझ से नर्मदा बचाओ आंदोलन का सबसे बड़ा कॉन्ट्रिब्यूशन जो रहा है वो यह कि एक तरीक़े

की जो हमारी समझ रही है इन मुद्दों की उनको इन्होंने धीरे-धीरे विकसित किया। ये सिर्फ़ उनका कॉन्ट्रिब्यूशन नहीं है, उनका खुला-सा स्ट्रक्चर रहा है शुरू से ही, कई तरह के लोग आए हैं, जुड़े हैं, रहे हैं, चले हैं, और लोग आए हैं। धीरे-धीरे उनका जो आर्ग्यूमेंट था, पहले वो पुनर्वास के प्रति था, बड़े बाँधो के बारे में हुआ, फिर डेवलपमेंट मॉडल के बारे में हुआ। तो उससे क्या हुआ कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते रहते हैं हमारी सोसायटी की अंडरस्टैंडिग बदलती रहती है। उसमें उनका एक बड़ा ही सराहनीय कॉन्ट्रिब्यूशन है कि उन्होंने एक ऐसा प्लैटफ़ॉर्म तैयार किया जिसमें कई तरह के लोग आए, अपने आइडियाज़ रखे, कुछ बहस की, सीखा-सिखाया। मैं तो ये समझूँगा कि दो-तीन साल जो मैंने फ़िल्म बनाने में और एडिट करने में, फिर दिखाने में लगाए, मेरे लिए बड़ा ही अहम क़िस्म का एक्सपीरिएंस रहा। मतलब मैं पिछले साल उड़ीसा गया था दस दिन के लिए और एक बार आपके दिमाग़ में वो नर्मदा घाटी का जो अनुभव है कि 'स्टेट क्या है?', 'प्राइवेट कैपिटल का रोल क्या है', 'इकॉलॉजी के क्या इश्यूज हैं', अगर एक बार इन मुद्दों को ग़ौर से समझ लें तो फिर आप कहीं भी जाएँगे तो आपको समझने में दिक़्क़त नहीं होगी कि वही कहानी फिर से दोहराई जा रही है।

नर्मदा से ही जुड़ा एक और सवाल। 95 में पहली बार घाटी जाने से पहले एक फ़िल्म देखी थी 'ए वैली रिफ़्यूजेज़ टू डाई'। बड़ा लाभकारी रहा था। बाद में आनंद पटवर्धन और सीमन्तिनी धुरू की फ़िल्म आयी। झरना झावेरी और अनुराग सिंह ने भी एक फ़िल्म बनायी है। क्या कुछ अंतर लगता है आपको उन फ़िल्मों में और अपनी फ़िल्म में?

मैं समझता हूँ कि ये एक बड़ा ही इंट्रेस्टिंग कोइन्सींडेंस ही मान लीजिए कि एक मूवमेंट है जिसका इतिहास बीस-बाईस साल पुराना है, और नब्बे से लेकर आज तक हर तीन-चार साल पर कोई-न-कोई फ़िल्म बनायी गयी है इसके बारे में। उन फ़िल्मों ने भी जो एक तरीक़े का आर्ग्यूमेंट पेश किया है वो भी आप देखेंगे, बदलता रहा है। कुछेक-दो साल पहले किसी ने इटली में एक फ़ेस्टिवल किया था जिसमें उन्होंने चारों-पाँचों फ़िल्मों को बुलाया था और बड़ा इंट्रेस्टिंग था। इन फ़िल्मों का जो कैनवस है वो किस तरीक़े से बदलता रहा है। मुझे लगता है कि शुरू के दौर में बहुत इन्नोसेंस थी। किससे लड़ाई है, कैसी लड़ाई है वो कैसे लड़ी जाएगी, कैसे जीती जाएगी। पहली जो थी अली काज़मी की फ़िल्म 'वैली राइजेज़', एक बहुत ही सुंदर, बहुत ही अच्छी फ़िल्म है। उसमें एक रोमांटिक, आइडियलिस्टिक क़िस्म की पॉलिटिक्स है। अगर हम झरना झावेरी और अनुराग सिंह की फ़िल्म को देखें 'कैसे जीबो रे', तो वो तो वर्गी बाँध के बारे में थी जिसका कि भयंकर इतिहास रहा है, भयानक इतिहास रहा है। तो उस फ़िल्म का तो बिल्कुल ही अलग कैरेक्टर है। जब तक मेरी फ़िल्म की बारी आती है ... क्या है कि मैं आपको बता दूँ कि मैंने सिर्फ़ अली काज़मी की फ़िल्म देखी थी, झरना और अनुराग की देखी थी, वर्गी के बारे में। बाक़ी मैंने जान-बूझ के देखी ही नहीं। फ़िल्म बना रहे हो तो देखने से कोई फ़ायदा नहीं होगा। पर मैं समझता हूँ, अगर आपके सवाल का मैं जवाब दूँ कि ये जो तीन, पाँच, छह, सात फ़िल्में बनी हैं एनबीए के बारे में, आंदोलन और घाटी में जो लड़ाई है उसके बारे में, तो वो हमारी समझ के स्टेजेज़ को भी मार्क करती है जिनके बारे मैंने अभी थोड़ी देर पहले आपको बताया। धीरे-धीरे हम लोग समझ रहे हैं कि ये मुद्दा है क्या फ़ाइनली।

अभी फ़रवरी-मार्च 2006 में दिल्ली में जन्तर-मन्तर पर लम्बी भूख हड़ताल चली। बाद में उधर गुजरात में नरेन्द्र मोदी भी बैठ गए। एक दिन आमिर ख़ान 'रंग दे बसंती' की पूरी टीम को लेकर वहाँ थोड़ी देर के लिए पहुँच गए। उसी के साथ एक तरह की डिबेट-सी शुरू हो गयी। आंदोलन के पारंपरिक समर्थकों को ये थोड़ा अजीब-सा लगा। आपकी इस पर क्या राय है?

देखिए, एनबीए की एक सबसे बड़ी ख़ासियत है कि उन्होंने अपने दरवाज़े हरेक के लिए खुले रखे हैं। उस टाइम पे कई क़िस्म के लोग आए, उसमें कॉन्ट्रिब्यूट भी किया, हो सकता है कइयों ने कुछ फ़ायदे भी उठाए हों और आगे निकल गए हों, लेकिन ये महत्त्वपूर्ण है कि आंदोलन सबके लिए खुला है। ये मानना पड़ेगा कि कोई भी बाहर से आए, कहीं से आए, घाटी में जाए ...। जब तक कोई आदमी ऐसी हरकत न करे कि भई ये हमारे ख़िलाफ़ कुछ कर रहा है तो वो काफ़ी ओपनली लोगों को वेलकम करते थे। ये उनका कोई धार्मिक मामला तो नहीं था। स्ट्रैटिजकली, 'इट्स अलसो अ वेरी गुड आइडिया'। ये आपको भी मालूम होगा कि जब एनबीए वाले पहले आए और श्रमशक्ति भवन के बाहर बैठे, कोई नहीं था। मतलब घाटी से जो लोग आए थे बीस-पच्चीस, वो थे बस, और कुछ नहीं था। न कोई प्रेस था न कुछ। हमें लगा कि ये तो बहुत भयंकर स्थिति है। थोड़ा-बहुत किसी को फ़ोन करने लगे कि भई आइए। और एक स्थिति आयी कि पन्द्रह-बीस दिनों में भूख हड़ताल के बाद वह देश का नंबर वन मीडिया इवेन्ट बन चुका था। अब जब आप जन्तर-मन्तर जैसी जगह पर एक मंच खड़ा करते हैं उस तरीक़े का और इतना मीडिया अटेंशन है तो ज़ाहिर है कि कोई न कोई तो उस सिचुएशन को एक्सप्लॉयट करना चाहेगा। आमिर ख़ान के जब आने की वहाँ बात हुई तो एक तरीक़े से किसी को भी दिक़्क़त नहीं होनी चाहिए। आख़िर वेल नोन ऐक्टर हैं। अगर उन्हें लगे कि भई एक मुद्दा ऐसा है जिसमें वो अपना कुछ रोल निभा सकते हैं तो ठीक है। थियरेटिकली मेरे को कोई प्रॉब्लम नहीं है। लेकिन ये ज़रूर था कि उनके आने के पहले से ही हममें से कुछ लोगों ने नर्मदा के साथियों को कहा कि ये आमिर ख़ान का कोक के प्रति जो रुख़ है ... ये नहीं होना चाहिए कि वो यहाँ आएँ और उनसे ये सवाल न पूछा जाए कि कोक के प्रति आपका क्या रुख़ है। एनबीए, एनएपीएम[1], मेधा ख़ुद कोक के ख़िलाफ़ कैंपेन से जुड़ी हैं। इसलिए इस तरीक़े का कन्फ़्यूज़न अलाउड नहीं होना चाहिए। ख़ैर, जब आमिर आए तो कोई भी जो वहाँ था ... रिपोर्टिंग भी अगले दिन देखी होगी ...। तो मुझे तो शुरू से ही लगने लगा था कि ये कोई इन्नोसेंट क़िस्म का विज़िट नहीं था।

इन्नोसेंट क़िस्म का विज़िट नहीं था, यानी आपके हिसाब से आमिर ख़ान का मक़सद कुछ और था?

देखिए, वो 'रंग दे बसंती' फ़िल्म के सब ऐक्टर्स को साथ लेकर आए उसके डायरेक्टर उसके साथ थे। एक माहौल-सा उन्होंने बनाया हुआ था। हम ये नहीं कहेंगे कि वो फ़िल्म के प्रमोशन के लिए था या अपनी इमेज के प्रमोशन के लिए था। जैसा भी था, जिस तरीक़े से वो आए वहाँ उससे तो लगता था कि थोड़ा सिनिकली आए थे। चाहे वो ये बात मानें या न मानें लेकिन लग तो यही रहा था कि कोई फ़िल्म है जिसमें आप 'अ काइंड ऑफ़ सुपरफ़िशियल ऐक्टिविज़्म' दिखाना चाहते हैं, उसका पूरा कास्ट और डायरेक्टर लेकर आते हैं तो बात क्या है? इसकी कोई तुक नहीं बनती है। ऐसा हो जाता है कि कई क़िस्म के लोग हैं। दिन में अगर आप जन्तर-मन्तर पर बारह घंटे बैठते तो देखते कि हरेक जो वहाँ था वो न तो कोई पॉलिटिकली प्योर या पॉलिटिकली कॉन्शस क़िस्म का इंसान था। हर क़िस्म के पापी पहुँच जाते हैं जन्तर-मन्तर पे। हर किसी की तो आप चेकिंग नहीं कर सकते कि आप भई किस तरीक़े के हैं। लेकिन गुजरात में ये मुद्दा बन गया तो लोगों ने कहना शुरू किया इसके बारे में। तब मुझे थोड़ा-सा लगा कि आमिर का बार-बार ये कहना कि देखिए मैं कुछ नहीं जानता हूँ, मैं बड़े बाँधों के बारे में नहीं बोलना चाहता हूँ, मैं डेवलपमेंट के बारे में कुछ नहीं बोल रहा हूँ, मैं तो सिर्फ़ ये कह रहा हूँ कि ग़रीबों को नहीं हटाना चाहिए। ये मुझे बहुत ही हिप्पोक्रिटिकल-सा स्टेटमेंट लगा। क्योंकि आज की तारीख़ में और नर्मदा बचाओ आंदोलन के बीस-बाईस साल के इतिहास के बाद कोई भी ये नहीं कह सकता कि भई मुझे नहीं मालूम बड़े बाँधों के बारे में या मैं नहीं कह सकता हूँ, लेकिन ग़रीबों को नहीं हटाना चाहिए। क्योंकि ग़रीबों को नहीं हटाना चाहिए बिना रीसेटलमेंट, ये तो नरेन्द्र मोदी भी कह

रहे हैं! इस पर तो कोई विवाद नहीं है। विवाद तो पूरे डेवलपमेंट का मॉडल है। तो कुल मिला कर वहाँ उनका प्रेज़ेंस थोड़ा-सा सिनिकल क़िस्म का प्रेज़ेंस था। और जिस तरह से उस धरने को मास मीडिया ने पहले ही एक सर्कस-सा बना रखा था तो उस सर्कस में ये एक बहुत बड़ा ऐक्ट बन गया। उससे लोगों कि कुछ जानकारी या पहुँच बढ़ी, कहना मुश्किल होगा।

नर्मदा से आगे बढ़ते हैं। 13 दिसम्बर के बाद चले घटनाक्रम में गिलानी के बचाव के लिए जो अभियान चला उसमें आपने एक अहम भूमिका अदा की, अदालतों के चक्कर लगाए, गवाही के दौरान कश्मीरी ज़बान में हुई बातचीत का अनुवाद किया जो आख़िरकार अहम साबित हुआ। अपने उन अनुभवों के बारे में कुछ बताएँ?

13 दिसम्बर और ख़ासकर गिलानी डिफ़ेन्स में मेरा इन्वॉल्वमेंट यहीं से हुआ कि उनके वकीलों को एक कश्मीरी ट्रांसलेटर की ज़रूरत थी और दुर्भाग्यवश कुछ ऐसी राजनीतिक वजहें थीं कि उन्हें एक कश्मीरी हिन्दू चाहिए था। ये ट्रैजेडी है हमारे लीगल सिस्टम की, मोरैलिटी की, लेकिन जैसा भी है, उन्हें कोई कश्मीरी पंडित नहीं मिल रहा था जो कि ट्रांसलेट कर पाता उस बातचीत को। मेरा इन्वॉल्वमेंट शुरू तो वहाँ से हुआ डायरेक्टली जो कि टेक्निकल क़िस्म का इनपुट था। लेकिन नर्मदा के अनुभवों से निकलते हुए जो कि हमारी 'स्टेट' की समझ का पहला पड़ाव था, जो पहला सबक़ डिटेल में हमने नर्मदा घाटी में सीखा था, समझा था; उसका दूसरा अहम ऐडवांस कोर्स 'गिलानी डिफ़ेन्स कमेटी' के दौरान मुझे समझ में आने लगा। मैं समझता हूँ कि मेरी ख़ुशक़िस्मती है कि काम के ज़रिए स्टेट की फ़ंक्शनिंग की जो बारीकी है, मुझे उसको समझने का मौक़ा मिला है। और ख़ास कर पार्लियामेंट अटैक केस के बाद पुलिस, इंटेलीजेंस, लीगल सिस्टम, जुडिशियरी, लोअर जुडिशरी, हायर जुडिशरी – इन सबको बड़े ग़ौर से देखने का मौक़ा मिला। उससे अपनी पॉलिटिकल अंडरस्टैडिंग पर तो बहुत ही असर पड़ा है।

इन अनुभवों को साझा करने के लिए कोई फ़िल्म बनाने की बात कभी आपके दिमाग़ में आयी है?

देखिए, जब मुझे गिलानी के केस में गवाही के लिए बुलाया गया था उसी साल पहली बार तेरह साल बाद मैं कश्मीर गया था। हम हैं तो कश्मीरी। श्रीनगर के हैं पर परिवार हमारा बहुत पहले से बाहर रहा है। ऐसा नहीं था कि कभी कोई उजाड़े गए थे, भगा दिए गए थे। ऐसा कुछ नहीं था लेकिन जैसा भी था, रिश्तेदार भी नहीं रहे थे। तो मैं उसी साल तेरह साल के बाद दो-तीन हफ़्तों के लिए वहाँ गया। गया तो सोचने लगा कि कश्मीरी पंडित होते हुए कश्मीर के मुद्दे को समझना बड़ा पेचीदा-सा सवाल है, बहुत ही कॉम्प्लीकेटेड मामला है। मैं समझता हूँ कि पिछले तेरह सालों में, मैं फ़िल्ममेकर तो तब भी था पर कभी सोचा नहीं था कि मैं कश्मीर पर फ़िल्म बनाऊँगा। लेकिन उस साल, क्योंकि ये तीन साल का इतिहास था कि नर्मदा के बारे में, उस सब के बारे में सोचा था, तो मेरे को समझ में आने लगा कि मौक़ा सही है मेरे लिए, अब मैं कश्मीर जा सकता हूँ, क्योंकि मेरे पास एक अंडरस्टैडिंग है, थोड़ा-बहुत पॉलिटिकली हम तैयार हैं उससे टक्कर लेने के लिए, 'टू टेक इट ऑन'। तो तब से मैं कश्मीर पर एक फ़िल्म बना रहा हूँ उसका 13 दिसम्बर या पार्लियामेंट अटैक से कोई ताल्लुक़ नहीं है। लेकिन एक समझ जो है वो तो मतलब पैरेलल में ही चलती है। कश्मीर में क्या हो रहा है, दिल्ली में क्या हो रहा है और वो एक दूसरे का तो इंटरैक्शन रहता ही है। ये जो दूसरा सवाल है कि 13 दिसम्बर का जो पूरा मामला है, जैसे अभी भी हर हफ़्ते उसके नए-नए पहलू खुलते रहते हैं ..., तो मतलब ये दिलचस्प हाइ-ड्रामा वाली कहानी है। तो किसी को तो इसके ऊपर फ़िल्म ज़रूर बनानी चाहिए। मैं तो

'ऐटलीस्ट नॉट नाउ और नॉट थिंकिंग ऑर डूइंग समथिंग लाइक दैट'।

अच्छा, ये बंत सिंह की घटना हो जाती है, एक बंत सिंह के साथ कोई राजनीतिक पार्टी ख़ड़ी होती है, कोई सपोर्ट सिस्टम होता है, वो दिल्ली लाए जाते हैं, उनके लिए अभियान चलता है ... लेकिन दलित उत्पीड़न की ये इकलौती घटना नहीं है। झज्जर हमने सुना, दुलीना ज़्यादा पुरानी नहीं है, महाराष्ट्र के अकोला की घटना उन्हीं दिनों की है। बिहार में लगभग रोज़ ऐसी घटना होती है और ज़्यादातर अनरिपोर्टेड रह जाती है। मेनस्ट्रीम मीडिया में नहीं आती तो आती ही नहीं। तो, पूरी फ़िल्ममेकर्स कम्युनिटी से मेरा सवाल है कि ऐसी घटनाएँ उनकी फ़िल्मों में क्यों नहीं आ पातीं हैं?

अगर आप इंडियन डॉक्यूमेंट्री का इतिहास देखें पिछले बीसेक साल का तो हक़ीक़त बिल्कुल उल्टी है। मतलब शुरुआत उल्टी है, जैसे 'भागलपुर ब्लाइंडिग्स' सुहासिनी मुले, तपन बोस की, मीरा दीवान की फ़िल्म थी 'डाउरी डेथ्स' पर। फिर एक दौर आया जिसमें डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म का दायरा कुछेक बदलने लगा। वो क्यों बदलने लगा मैं कह नहीं सकता। कुछ क्या, कई व्याख्याएँ हो सकती हैं। मैं समझता हूँ कि आज की तारीख़ में मास मीडिया के ज़माने में घटनाओं की रिपोर्टिंग्स, जिसे हम बोलेंगे 'फ़र्स्ट इनफ़ॉर्मेशन रिपोर्ट', FIR टाइप की हो रही है। मतलब हम सिर्फ़ एनडीटीवी, सीएनएन-आइबीएन को न देखें, अगर इतने चैनल हैं हमारे कुल मिला के इन सब मुद्दों पर ..., जैसे बंत सिंह को आप देख लीजिए। बंत सिंह की जो कहानी है, वो टीवी पर आ चुकी थी। मेरी माँ नोएडा में रहती हैं, मैं जब थोड़ा-सा इनवॉल्व हुआ, उनको बताने लगा तो उनको याद था कि 'हाँ टीवी पे देखा था हमने'। तो ऐसा नहीं है कि ये जो इन्सीडेंट्स हैं इनकी FIR नहीं होती हैं, चाहे वो प्रिंट में हो या टीवी में हो। दिक़्क़त अगर कोई है फ़िल्ममेकर्स की, तो मैं ये कहूँगा जो ये सेकंड लेयर है न, वहाँ है। इसका मतलब क्या है? मैं अगर जाकर, जैसे कि बंत सिंह को ले लीजिए 'आपको क्या हुआ' अगर सिर्फ़ उसी पर बात रुक जाती है, जो कि अमूमन रुक जाती है, तो मैं समझता हूँ कि हमारे काम में और टीवी के काम में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं है। तो जो दूसरा लेवल है उसके लिए आपको बहुत काम करना पड़ता है।

कैंपेन बनाना होता है ...

कैंपेन ही नहीं। मान लीजिए, अगर मैं समझना चाहूँ कि पंजाब में क्या हो रहा है ... जैसे - मेरे लिए बंत सिंह के बारे में सुनने के बाद उससे मिलने के बाद एक दिन, दो दिन, तीन दिन - उसके लिए छोटा-सा वीडियो काटने और बाक़ी लोगों से बात करने से एक पूरी दुनिया दिखायी देती है मुझे वहाँ। पंजाब में दलितों की क्या स्थिति है? तीस प्रतिशत शीड्यूल कास्ट वहाँ हैं पंजाब के पॉपुलेशन में। ज़्यादातर भूमिहीन हैं। उनकी क्या स्थिति है? उनकी महिलाओं के साथ क्या हो रहा है? बलात्कार है, वॉयलेंस है। तो बंत सिंह तो उस प्रोसेस का एंड रिजल्ट है ना! अब ये जो पूरा इसका बैकग्राउंड है, मुझे लगता है कि ये हम फ़िल्ममेकर्स का, हमारा जो रॉ मटीरियल है, यही सब है। ये जो घटनाएँ होती हैं, अगर इन पर छोटी-बड़ी फ़िल्म बनती है या नहीं बनती है, मैं समझता हूँ बनती है तो बहुत अच्छी बात है, नहीं बनती है तो ठीक है। लेकिन इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला। फ़र्क़ तब पड़ेगा जिससे आपने माथा पीटा है ... उसके अगेंस्ट जाकर जो निकलेगा, वो मैं समझता हूँ, उसके इंतज़ार में हम हैं। वो एक ज़माना था जब फ़िल्ममेकर थोड़े रोमांटिक-से होते थे कि भई कोई घटना हुई है तो कोई फ़िल्ममेकर गए और कुछ शूट कर के ले आए। आज की तारीख़ में मैं समझता हूँ कि वीडियो कैमरा तो हर क़स्बे में है, लोग शूट भी कर लेते हैं। ऐसी बात नहीं है कि नहीं करते। तो कुल मिला कर

मेरा ये कहना है कि अगर डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म का कुछ रोल है आज की इमर्जिंग पॉलिटिक्स में तो वो रोल 'कवरेज' का नहीं है बल्कि समझ का है 'दैट इज़ द कॉन्ट्रिब्यूशन दैट आई एम लुकिंग फ़ॉर'।

मैं भी मानता हूँ कि आयी होगी एनडीटीवी पर बंत सिंह की ख़बर, लेकिन एनडीटीवी में पचास और ख़बरें आती हैं। एक ख़बर आयी और चली गयी जिसके दिमाग़ में अटकना था अटकी बाक़ी पास हो गयी। इस तरह की फ़िल्म, चाहे पाँच मिनट की हो या बीस मिनट की, इसके बनने से और इसके दिखाने से बहुत ज़्यादा प्रभाव पड़ता है। जेएनयू सिटी सेंटर में जो लोग आए होंगे उस दिन उनको पूरा आँकड़ा मिल गया होगा, पूरे माहौल से अवगत हो गए होंगे, वो एनडीटीवी से नहीं हो सकता ...

बिल्कुल, मुझे याद है पहली बार दिल्ली युनिवर्सिटी में हम कोई स्क्रीनिंग कर रहे थे तो कोई आया और हमसे कहा कि क्या है कि 'ये अनएडिटेड मटीरियल' है मणिपुर से, दो बजे तुम्हारी स्क्रीनिंग है तो हम पहले दिखा सकते हैं?' वो पन्द्रह मिनट का मटीरियल था और उसके बाद आधे-एक घंटे का डिस्कशन हुआ। मैं समझता हूँ कि खुद व्यक्तिगत रूप से मैं और जो उधर 100-150 सौ लड़के-लड़कियाँ बैठे हुए थे, सब हिल गए उस अनएडिटेड मटीरियल को देखकर। और तब से, डेढ़ साल से वो अनएडिटेड मटीरियल सर्कुलेशन में है। मैं खुद कहूँगा कि बंत सिंह पर जो छह-सात मिनट का वीडियो हमने बनाया है उसकी भी कॉपीज़ बनायी है वो दिखा रहे हैं। मैं ये नहीं कह रहा हूँ कि उसका असर नहीं हुआ, होता है। लेकिन घटनाओं में भी वो एक घटना होगी और अनेकों में से एक वो बंत सिंह होगा। हम बंत सिंह के ऊपर क्यों फ़ोकस कर रहे हैं? इसलिए नहीं कि उसके ऊपर बहुत अत्याचार हुआ है। अत्याचार से आगे निकलते हुए बंत सिंह बहुत ही ... 'ही इज़ ऐन इनक्रेडिबल मैन'। तो ये बहुत ज़रूरी है। मैं ये नहीं कह रहा हूँ कि हमलोगों को जाकर इस क़िस्म का FIR टाइप नहीं करना चाहिए, करना तो चाहिए। ये एक 'माइक्रो' रिकॉर्ड होना चाहिए। और मैं ये कहने वाला था कि आज हर गाँव में, क़स्बे में, छोटे शहर में, बड़े शहर में वीडियो कैमरा तो होता ही है। हमें लोगों को प्रोत्साहित करना चाहिए कि आप जाकर शूट करो। अच्छा हो, बुरा हो, कुछ तो रिकॉर्ड रहना चाहिए। जब आप सौ रिकॉर्ड करेंगें तो उसमें से एक, दो या तीन बार कुछ ऐसा होगा जिसका बहुत ज़्यादा प्रभाव हो सकता है। मुझे भी लोग कहते हैं कि आप आ सकते हैं? कुछ ऐसा है, वैसा है। लेकिन मैं बाक़ी सब रोक के तभी उसमें डुबकी मारूँगा जब वो लम्बे दौर में बहुत ज़्यादा प्रभावी हो सकने वाला होगा। हम एक ऐसे माहौल में रह रहे हैं जहाँ वारदात तो रोज़ हो रही है। कहीं भी, चाहे वो कश्मीर हो या बिहार में हो। अट्रोसिटीज़ हर समय, हर दिन हो रही हैं। हम एक अट्रोसिटी से दूसरी पर तो नहीं भाग सकते हैं न! हमें मौक़े को समझ के टैक्टिकली उस पर फ़ोकस करना है ताकि उसका प्रभाव ज़्यादा हो। तो मैं यही कह रहा हूँ कि हमें इन घटनाओं से दूर नहीं भागना है, टैक्टिकली उन्हें फ़ोकस करना है ताकि उसका अधिकतम प्रभाव पड़े।

अगर मैं फ़िल्ममेकर की बात करूँ कि इस तरह के मुद्दों पर अपनी फ़िल्मों के माध्यम से रिऐक्ट करने वाले, तो हो सकता है कि मेरी जानकारी कम हो लेकिन आनंद पटवर्धन का नाम मुझे दिखता है, उनकी दो-तीन फ़िल्में भी देखी है या कुछ मसलों पर और लोगों ने भी कुछ बनाए हैं। आप किस तरह से इनकी जीनियोलॉजी बनाएँगे? आप कहाँ से उसको ट्रेस करते हैं?

शुरू में, अस्सी के दशक में बहुत-सी पॉलिटिकल फ़िल्में बनी हैं। वसुधा जोशी और रंजन पलित की फ़िल्म है 'वॉइसेज फ़्रॉम बलियापाल', 86 की फ़िल्म है मंजीरा दत्ता की, बिहार में फ़िल्म बनायी है,

हम लोगों ने दिखायी थी अभी 'आइएसएफ़' (इंडिय सोशल फ़ोरम) में। बहुत ही अच्छी फ़िल्म है 'सैक्रिफ़ाइस ऑफ़ बाबूलाल भुइंया'। तो ऐसी फ़िल्में बनती रही हैं। बहुत ही गंभीर तरीक़े से इंगेज करती हैं माहौल के साथ। लेकिन प्रॉडक्शन बहुत अनियमित था क्योंकि बेहद ख़र्चीला मामला था। फ़िल्म पर लोग शूट कर रहे थे। ये जो टेक्नॉल्जी का इम्पैक्ट पड़ा, डिजिटल टेक्नॉल्जी का, डेस्कटॉप एडिटिंग का, तो हुआ ये कि अब पिछले दस साल में ही कह सकते हैं कि गति और क्वालिटी अच्छी रही है। आज ऐसा नहीं है कि डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म मेकिंग में हमारा प्रॉडक्शन नहीं है। साहित्य हो अगर किसी भी भाषा में, कुल मिला के छह लेखक लिखेंगे तो कितना लिटरेचर बनेगा? तो मतलब एक न्यूनतम स्तर तो होना चाहिए। अब पिछले दसेक साल से उत्पादन का न्यूनतम स्तर जो है, ऐसा बन रहा है कि मुझे लगता है कि उससे हम कुछ उम्मीद रख सकते हैं कि भई अब कुछ तो आपकी भी ज़िम्मेदारी बनती है, इससे कुछ निकलना चाहिए।

और वो जीनियोलॉजी?

हाँ, उसी बात पर मैं आ रहा हूँ। डॉक्यूमेंट्री फ़िल्ममेकर्स की जो आप जीनियोलॉजी पूछ रहे थे वो थी सिर्फ़ एक तरीक़े से पॉलिटिकल ऐक्टिविस्ट मोड में। जो एक नयी पीढ़ी निकल कर आयी जो कुछ रिऐक्ट भी कर रही थी उसके अगेंस्ट कि भई यही तो नहीं हो सकती है, फ़िल्ममेकिंग के कई और भी पहलू हो सकते हैं। तो कुछेक उसके प्रति रिऐक्शन भी रहा है। मुझे लगता है कि वो एक अच्छी चीज़ है क्योंकि हम ये नहीं कहना चाहते, किसी को प्रेस्क्राइब नहीं करना चाहते कि भई यही डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म है। उसको कोई कैसे इस्तेमाल करे, ये तो उन पर निर्भर करता है। मैं समझता हूँ कि अब धीरे-धीरे राजनीतिक फ़िल्में बन रही हैं और उनका जो स्वरूप है, देखते ही आपको पता नहीं चलेगा कि ये बड़ी राजनीतिक फ़िल्म है। जैसे आप अमर कँवर की फ़िल्म 'नाइट ऑफ़ प्रॉफ़ेसी' देखेंगें तो उसमें 'पॉएट्री ऑफ़ रेसिस्टेंस' है। अगर आप उसे देखेंगे तो ... 'इट्स अ हाइली पॉलिटिकल फ़िल्म'। लेकिन उसका स्वरूप कुछ अलग है। उससे ये फ़ायदा भी है कि जिस तरीक़े के ऑडिएन्स को वो रीच करती है वो भी अलग है। देखिए, आज भी अगर हम बीस-पच्चीस फ़िल्ममेकर इकट्ठा हो जाते हैं तो उन्हें तो मैं पॉलिटिकल फ़िल्ममेकर ही मानूँगा। चाहे वो सेक्शुअॅलिटी के मुद्दे पर काम करते हैं या जेंडर पर काम करते हैं। सिर्फ़ उसका जो बाहर का आकार है, वो थोड़ा बदल रहा है। वो बदलना भी चाहिए। आज की तारीख़ में अगर आप मुझे कहें कि राजनीतिक मसलों पर बीसेक डॉक्यूमेंट्री दिखाइए, तो ये बात ज़रूर होगी कि वो एक ही तरीक़े की फ़िल्में नहीं होंगी, वो हर प्रकार की होंगी। मुझे भी लगता है कि ख़ासकर जैसे-जैसे मास-मीडिया इतना घटिया, नैरो और इडियॉटिक होता जा रहा है, वैसे-वैसे 'स्पेस हैज़ बीन क्रिएटेड फ़ॉर डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म मेकिंग'। आज जब हम दिल्ली में किसी डॉक्यूमेंट्री की स्क्रीनिंग करते हैं तो लोग आते हैं, क्योंकि उनको टीवी पर कुछ नहीं मिल रहा है जिससे वो इस देश को समझ सकें कि यहाँ क्या कुछ हो क्या रहा है। मैं निराशावादी नहीं हूँ, मुझे लगता है कि डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म मेकिंग में आने वाले पाँच-दस सालों में, ख़ासकर हिन्दुस्तान में, कुछ अच्छा होगा।

दिल्ली में लोग आते हैं, फ़िल्में दिखाते हैं। ठीक है, पर आपको नहीं लगता कि दूर-दराज़ की जगहों में भी ये दिखायी जानी चाहिए? ये मैं इसलिए पूछ रहा हूँ क्योंकि जैसे ही किसी इश्यू के मीडिया रिप्रेज़ेंटेशन की बात होती है तो मुख्यधारा की मीडिया ही दिखायी देती है। ज़ाहिर है उसकी पहुँच ज़्यादा है। लेकिन क्या हम इस वैकल्पिक माध्यम के दायरे को और बढ़ा सकते हैं? फैला सकते हैं? तरीक़ों में बदलाव ला सकते हैं? पिछले पाँच-सात सालों में 'फ़िल्म फ़ॉर फ़्रीडम' या 'आइएसएफ़' के दौरान 'पब्लिक का मल्टीप्लेक्स' अच्छे उदाहरण के तौर पर सामने आए हैं। पर 'पब्लिक का मल्टीप्लेक्स'

FILM
FESTIVAL
NOV 10 - 12, 2006
3
3 SCREENS
public ka multiplex!

उतनी ही पब्लिक के लिए था जो आइएसएफ़ में आए। ऐसी कोशिशों के विस्तार की कोई योजना है समकालीन फ़िल्मकारों के पास?

देखिए, पिछले पाँच-सात साल में टेक्नॉल्जी का बहुत अच्छा रोल रहा है, जैसे वीसीडी या वीसीडी प्लेयर्स का सस्ता होना, वीडियो प्रॉजेक्टर का सस्ता हो जाना। आज की बात नहीं है, आनंद पटवर्धन पन्द्रह-बीस सालों से फ़िल्म लेके, प्रॉजक्टर लेके घूमते रहे हैं। लेकिन इसकी भी एक सीमा है। एक फ़िल्ममेकर ख़ुद फ़िल्म, प्रॉजेक्टर लेके कहाँ-कहाँ जा सकता है। आज स्थिति बदल रही है। जब-जब कोई डिस्कशन होता है फ़िल्ममेकिंग पर, अकसर मेनस्ट्रीम मीडिया वाले पूछते हैं कि आप तो हैबिटेट सेंटर में फ़िल्म दिखा रहे हैं, सराय में फ़िल्म दिखा रहे हैं, बाहर फ़िल्में क्यों नहीं दिखा रहे हैं। सच तो ये है कि वो फ़िल्में दिखायी जा रही हैं। कहीं-कहीं संगठित तरीक़े से कोई कल्चरल फ़ेस्टिवल कर रहा है, तो कभी कुछ कर रहा है। पिछले साल राहुल रॉय, सबा दीवान और मैं गए थे करनाल। करनाल में किसी ने दो दिन का डॉक्यूमेंट्री फ़ेस्टिवल रखा था। भुवनेश्वर में अलग उन्होंने 'भुवनेश्वर फ़िल्म आर्काइव' चालू किया है। वो स्क्रीनिंग्स करते हैं। तो, ऐक्टिविटी तो चालू है। कुछ नहीं तो टीवी-वीसीडी पर लोग फ़िल्में देख रहे हैं। मैं अपनी नर्मदा वाली फ़िल्म की बात बताऊँ कि मुझे आज तक ई-मेल के ज़रिए ऑर्डर्स आ रहे हैं। छोटी-छोटी जगहों से आ रहे हैं, और हिन्दी लैंग्वेज वर्ज़न्स के लिए। तो मैं समझता हूँ कि लोगों ने देखना शुरू किया है। फ़िल्में सकुर्लेट होती हैं, कॉपी होती हैं। मैं कई बार लोगों से मिलता हूँ तो वो कहते हैं कि 'हाँ आपकी फ़िल्म देखी है, हाँ, वहाँ देखी थी'। अब मुझे तो नहीं मालूम वो फ़िल्म कैसे उन तक पहुँची, वहाँ किसने दिखायी। लेकिन फ़िल्में दिखायी जा रही हैं। लेकिन कभी भी ऐसा नहीं हो सकता कि मास मीडिया को हम चोट पहुँचा सकें। अच्छा हुआ कि आपने 'फ़िल्म्स फ़ॉर फ़्रीडम' और 'दिल्ली फ़िल्म आर्काइव' ने जो 'पब्लिक का मल्टीप्लेक्स' किया था, उसकी बात छेड़ दी। इसका आइडिया हमारा क्या था कि देखिए हम ये कर सकते हैं कि हम आपको एक आर्काइव मुहैया कर सकते हैं जहाँ फ़िल्में होंगी या फ़िल्मों के बारे में जानकारी होगी। उसके बाद आज कोई ये नहीं कह सकता कि वीसीडी ख़रीदने के लिए सौ रुपया नहीं है उतना तो इकट्ठा हो सकता है। तो, हमारा ये ही आइडिया है कि पब्लिकेशन के ज़रिए, वेबसाइट के ज़रिए, लोगों को अवगत कराएँ कि भई ये हो रहा है, ऐसी-ऐसी फ़िल्में बन रही हैं। उसके बाद तो लोग हमसे संपर्क कर सकते हैं और हम उनसे। हम करते भी रहते हैं। यानी ये नहीं है कि जो स्क्रीनिंग हम दिल्ली में करते हैं उसके पैकेज बंबई में भेजते हैं। बंबई में अलग है 'फ़िल्म फ़ॉर फ़्रीडम' का ... 'विकल्प' करके उनका आर्काइव। तो आपके सवाल को बुरा न मानते हुए मैं समझता हूँ कि जो आपने बात उठायी है, फ़िल्ममेकर के लिए वो गर्व की बात है।

यानी आप ये कह रहे हैं कि डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म प्रदर्शन अब बड़े केन्द्रों से बाहर भी हो रहा है। फ़िल्ममेकर्स बाहर जा रहे हैं। पर अब भी छोटी जगहों पर शायद ये उतना लोकप्रिय नहीं बन पाया है ...

देखिए, पिछले तीन साल में जब से ये 'कैम्पेन अगेंस्ट सेंसरशिप' चालू हुआ ... ऐक्चुअली, जो उसमें सबसे बड़ी बात हुई कि सेंसरशिप को तो हम रोक नहीं पाए लेकिन स्क्रीनिंग कल्चर को हम थोड़ा धक्का ज़रूर दे पाए हैं। जो हमारे यहाँ इस्टैबलिश्ड वेन्यूज़ थे वो तो हैं, वो यहाँ चल रहे हैं। कई लोगों ने सिटीज़ के बाहर भी स्क्रीनिंग शुरू किया है। गोरखपुर से कभी कोई आएगा, बनारस से कभी कोई आएगा, पूछेगा कि आप ये भेज सकते हैं? लेकिन धीरे-धीरे अब जब स्क्रीनिंग होने लगी है तो लोग दिलचस्पी लेने लगे हैं। जैसे 'आइएसएफ़' में कोई प्रोफ़सर आए हरियाणा में कहीं से, पूछने लगे, 'अच्छा बताइए ये प्रॉजेक्टर कितने का है, सस्ते से सस्ता सौ लोगों को दिखाने के लिए? फ़िल्म दिखानी है,

कैसे दिखायी जाए?' तो ये भी एक क्षेत्र है जो कि हम दिखाना चाहते हैं कि तंबू और टेंट खड़ा करके आप एक 'थ्री-स्क्रीन मल्टीप्लेक्स' भी खड़ा कर सकते हैं। मैं समझता हूँ कि 'दिस इज़ ऑल पार्ट ऑफ़ टैक्टिकल मीडिया'। सिर्फ़ फ़िल्म बनाना ही नहीं, उसका प्रदर्शन करना भी एक काम है। आज की तारीख़ में डिस्ट्रिक्ट लेवल पर तो नहीं लेकिन स्टेट लेवल पर तो पॉलिटिकल ऑर्गेनाइजेशन और लोग प्रॉजेक्टर ख़रीद सकते हैं। और एक-दो लोग जिनमें वो क्षमता है कि चलो यार तीन हफ़्ते के लिए हम निकलेंगे और दिखाएँगे, हमने प्रॉजेक्टर लिया और वीसीडी प्लेयर लिया, लाउडस्पीकर और ऐम्प्लीफ़ायर तो कहीं भी मिल जाता है, जहाँ बिजली है वहाँ वो मिल जाता है, पर्दा भी कहीं मिल जाता है। हम जानते हैं कि फ़िल्ममेकर ही इसे पुश नहीं करेंगे तो और कोई नहीं करेगा, और लगे भी हुए हैं लोग। उड़ीसा में तो ख़ासकर, बहुत चल रहा है। हम लोगों के साथ तो उनका एसोसिएशन भी है। कई जगहों में चालू है। दिक़्क़त ये है न, हमारे देश में भाषा की बहुत समस्या है। इंग्लिश में होगी तो आधी जनता गयी, हिन्दी में होगी तो चलिए तीन स्टेट्स में तो चलेगा, बाक़ी और जगहों का क्या होगा, और किसी और भाषा में हो तो ये सब भी ...। 'दीज़ आर रियल इश्यूज़'। और उम्मीद है कि धीरे-धीरे टेक्नॉल्जी का भी इसमें हेल्प लिया जा सकता है। लैंग्वेज वर्ज़न हो या सबटाइटलिंग हो। सबटाइटलिंग का भी ये है कि हर जगह लोग इतनी तेज़ी से नहीं पढ़ सकते हैं सबटाइटल्स। उसके बारे में भी तो सोचना है 'दीज़ आर सम रियल इश्यूज़ व्हिच आर प्रिवेन्टिग दि सर्कुलेशन'।

थोड़ा 'दिल्ली फ़िल्म आर्काइव' के बारे में बताइए। उसकी अवधारणा और उसका मक़सद क्या है?

यही था कि जब हम लोगों ने ये 'कैम्पेन अगेंस्ट सेंसरशिप' चलाया था तो बहुत जल्दी ही हम समझ गए थे कि देखिए, सेंसरशिप से आज किसी कोर्ट-कचहरी में तो नहीं लड़ सकते। इससे तो आप तभी लड़ सकते हैं जब लोग आपके साथ हों, जब लोगों में ये भावना हो कि नहीं भैया ये सेंसरशिप अगर मौजूदा स्वरूप में या किसी और स्वरूप में रहे तो ये हमारे लिए ख़राब है। अब ये कोई अकेडमिक डिस्कशन तो है नहीं, न ही मैं आपको बस स्टैंड पर खड़ा होके बोलूँगा कि आप सेंसरशिप के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठाइए। जब तक लोगों को ये न लगे कि यह ज़रूरी है, वो कैसे आगे आएँगे इस मुद्दे पर? तो इसके दो पहलू थे। एक तो हमने ये कहा कि हमारी कोशिश होनी चाहिए कि हमारे स्वाभाविक साथी कौन हो सकते हैं। जो सोशल इश्यूज़ से जुड़े हैं, जो समझ सकते हैं कि फ़िल्में बनाना और दिखाना उनके लिए जब तक मतलब 'इट्स ऐन इम्पॉर्टेंट टूल फ़ॉर देम ऑल्सो'। तो हमने कुछ सेमिनार और कुछेक ऐसी गतिविधियाँ कीं जिनमें इकट्ठा होकर सेंसरशिप के मुद्दे पर हमने ग़ौर किया। बहुत जल्दी सबको स्पष्ट हो गया कि सेंसरशिप चाहे किसी और बहाने चलायी जाती है, कुल मिला कर है तो वो राजनीतिक ही। पोर्नोग्राफ़ी को तो नहीं रोक पाते हैं लेकिन रोक पाते हैं तो ऐसी फ़िल्म को जिससे स्टेट को कोई परेशानी पैदा होती है या होने की आशंका रहती है। तो एक तो ये पहलू था कि अगर हम सेंसरशिप के ख़िलाफ़ लड़ेंगे तो हमें अपना दायरा बढ़ाना होगा। कुछ तो साथियों में, और उससे भी ज़्यादा पब्लिक के ज़रिए। और जैसा कि वो कहते हैं कि 'दी बेस्ट वे ऑफ़ फ़ाइटिंग सेंसरशिप इज़ थ्रू स्क्रीनिंग'। तो सेंसरशिप तो होती रहेगी और फ़ॉर्मल जगहों पर दिखाएँगे तो सेंसर सर्टीफ़िकेट माँगेंगे, इसलिए इन्फ़ॉर्मल तरीक़ों से दिखानी पड़ेगी, चाहे वो फ़ेस्टिवल्स के माध्यम से या वीसीडी के ज़रिए या फ़िल्म क्लब के ज़रिए। तो जो हमारा स्क्रीनिंग कल्चर है उसे एक तरह से ताक़तवर बनाना है। ये हमारे 'एंटी सेंसरशिप प्लेटफ़ॉर्म' का एक बहुत ही ज़रूरी क्षेत्र है। इसको तो करना ही करना है और मैं आपको बताऊँ, इसमें बड़ी दिलचस्प-सी बात है कि जब हमलोगों का वो कैंपेन चालू हुआ तो सौ-दो सौ फ़िल्मों की स्क्रीनिंग्स हुई होंगी और इससे जुड़े इवेंट हुए होंगे। हम सब ने अपना समय देकर, अपनी फ़िल्में मुफ़्त में देकर चालू किया इसको। अब घूम-फिर कर उन्हीं स्क्रीनिंग्स में से लोग आते हैं और हमारी

फ़िल्में ख़रीदना चाहते हैं। तो इस तरह की चीज़ों से सबसे ज़्यादा ख़ुशी होती है कि ऐसा नहीं है कि हम लोग कोई ख़ैरात बाँटते जाएँगे, हम अपनी फ़िल्में देते जाएँगे, हम अपनी फ़िल्में दिखाने के लिए टाइम भी निकालते जाएँगे। क्योंकि धीरे-धीरे लोग समझ रहे हैं। कोई कॉलेज टीचर है, एनजीओ है, कोई एक ग्रुप है या जो भी कुछ है – ई-मेल से संपर्क करते हैं कि 'जी, हम ये ख़रीदना चाहते हैं वो ख़रीदना चाहते हैं ...'। मैं समझता हूँ कि आने वाले साल-दो साल में इसको थोड़ा-सा ठीक-ठाक करने की ज़रूरत है। अभी हमारा वेबसाइट दुरुस्त नहीं है। हमें ये लगता है कि एक वेबसाइट ऐसा होगा कि जहाँ पर आकर लोगों को हर चीज़ के बारे में जानकारी मिलेगी कि आपको स्क्रीनिंग्स करनी है तो इक्विपमेंट क्या चाहिए आपको, कौन से हैं आजकल अच्छे सस्ते प्रॉजेक्टर, किसी का अनुभव है कि भइया गर्मी के मौसम में ये प्रॉजेक्टर काम नहीं करते हैं या ठंडे इलाक़े हैं तो यहाँ प्रॉजेक्टर में ये दिक़्क़त आ रही है या अच्छे सस्ते स्पीकर्स कौन से हैं पोर्टेबल जो कि आप कैरी कर सकते हैं, कोई युपीएस ऐसा है जो कि अगर पावर चली जाए तो थोड़ी देर फ़िल्म को ... मतलब ये नहीं कि सिर्फ़ फ़िल्म और फ़िल्म मेंकिंग के बारे में चर्चा हो बल्कि फ़िल्म स्क्रीनिंग की संस्कृति के बारे में भी बातचीत हो।

डॉक्यूमेंट्री के अलावा और कौन-कौन से फ़ॉर्म्स हैं जिन्हें आप वैकल्पिक मीडिया मानते हैं? ऐसा क्यों है कि ज़रूरत पड़ने पर सबूत के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का इस्तेमाल नहीं हो पाता है? अकसर देखने में आता है कि ऐसे मौक़ों पर ऑल्टरनेटिव मीडिया पोलेमिक्स का हिस्सा बनकर रह जाती है उस लार्जर फ़्रेमवर्क में। क्या इसके पीछे केवल बड़ी पूँजी का खेल है या और भी चीज़ें हैं?

देखिए, ये जो तबक़ा है जिनके पास इंटरनेट ऐक्सेस है हमारे देश में, वो अभी भी बहुत कम है। मैं तो समझता हूँ कि मेरे सूचना का मुख्य स्रोत अब मेनस्ट्रीम मीडिया नहीं है, मतलब कॉरपोरेट मीडिया नहीं है। मैं तो टीवी देखता ही नहीं हूँ जब तक कि कोई बहुत बड़ा मुद्दा न हो। अख़बार पढ़ता हूँ एक-दो और बाक़ी जो ख़बरें है वो तो इंटरनेट से ही मिलती हैं, किसी ई-ग्रुप से मेल फ़ॉरवर्ड हो जाता है। तो मतलब जो गंभीर मसले हैं उनकी ख़बर उधर से आती है। मैं समझता हूँ कि आज भी इस देश में जो सीरियस माइंडेड लोग हैं उनको भी इंफ़ॉर्मेशन कहाँ से आती है? लघु पत्रिकाओं से आती है। पचासों हैं हर एक स्टेट में। तो वो चाहे ट्रांस्लेशन में हो या ऑरिजिनल में हो। लोगों को अख़बारों से हटकर जो काउंटर मीडिया है उसी से सूचनाएँ मिलती हैं। मैं समझता हूँ कि ऑल्टरनेटिव मीडिया में, जो ऑल्टरनेटिव प्रिंट मीडिया है उसका तो बहुत ज़रूरी और बहुत अहम रोल है। ये न मानें कि उसकी सर्कुलेशन चार लाख नहीं है, हज़ार है, क्योंकि जिसकी सर्कुलेशन एक लाख या छह लाख है वो अकसर पढ़कर लोग पटक देते हैं लेकिन लघु पत्रिका को जो दस लोग पढ़ेंगे वो छह महीने चलेगी और वो चलती रहेगी। मैं समझता हूँ कि कम्प्यूटर अभी इतना फैला हुआ नहीं है। जब कम्प्यूटर का पेनीट्रेशन बढ़ जाएगा तो स्वाभाविक रूप से जो सामग्री अभी पत्रिका में है वो वेब पर आ जाएगा। हमलोग क्यों अटके हुए हैं मास मीडिया पर, क्योंकि ये ही नहीं उसको हम नज़रअंदाज़ भी नहीं कर सकते, साले बहुत फैले हुए हैं न। तो हमको अपने विकल्पों को तो मज़बूत करना है लेकिन ये भी सोचना है कि मास मीडिया को कैसे समझें।

लघु पत्रिकाओं की बात ... थोड़ी खलती है। मिसाल के तौर पर बिहार के किसी गाँव में जहाँ बामुश्किल दिन भर में एक बस जाती है वहाँ आठ बजे तक 'दैनिक जागरण' पहुँच जाता है। लघु पत्रिकाएँ दूसरी तरफ़ हैं। ज़्यादातर की ख़बर (सामग्री) के स्रोत एक हैं। कोई दो सौ बिकती हैं तो कोई साढ़े तीन सौ। हज़ार बिकने वाली चार-पाँच या हो सकता है दो-एक और हों। इससे हम क्या कह पाएँगे? और सवाल भाषा का भी है। क्या भाषा और सामग्री से सर्कुलेशन का कोई ताल्लुक़ नहीं है? क्यों नहीं है भई?

लोगों के पास छापने को पैसे नहीं हैं। पता चला एक अंक जनवरी में आया है, दूसरा मार्च में आना था लेकिन सितंबर में संयुक्तांक निकल रहा है। तो इससे तो हल नहीं होगा ...

देखिए, हमारा ईमान बेशक ठीक हो लेकिन हमारी आर्ट, हमारी कला अगर घटिया होगी तो उसके लिए कोई हमें माफ़ नहीं करेगा। अगर मैं डॉक्यूमेंट्री की बात करूँ तो आज की तारीख़ में डिमांड है। अगर एक साल हम फ़्री सीडी बाँट रहे हैं और उसके बाद लोग ख़रीदने को तैयार हैं तो मैं समझता हूँ कि वो समझते हैं कि इसमें मुद्दे हैं। कोई अगर तीन-चार सौ रुपए की सीडी ख़रीद रहा है तो वो समझ रहा है कि यार इसमें महत्त्वपूर्ण चीज़ है। ये दोनों चीज़ें हैं क्योंकि ऐसे लोग कहते हैं, भई हिन्दी में किताबें नहीं बिकती हैं; जो हिन्दी ख़रीदने वाले हैं उनके पास पैसे नहीं हैं। अगर आप हिन्दी अख़बार को देखेंगे, उसमें जो विज्ञापन देखेंगे और उसके रेट्स देखेंगे तो उससे कोई नहीं कहेगा कि हिन्दी पढ़ने वालों की जेब में पैसे नहीं हैं। इसका यही मतलब है कि वो किताब नहीं ख़रीदना चाहता है। ये दिक़्क़त है तो कहीं न कहीं हमें करना ये होगा कि जो हमारे कल्चरल प्रोडक्शन हैं न ... रूप-सज्जा की बात नहीं कर रहा हूँ, जो चीज़ हम निकाल रहे हैं जब तक उसकी ख़ासी ज़रूरत या इच्छा लोगों में नहीं होगी पढ़ने की तब तक ...। तो आप बिल्कुल सही कह रहे हैं वो सौ, दो सौ, तीन सौ, चार सौ कॉपी बंद हो जाएँगे। इसका हल क्या हो सकता है? क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि हिन्दी में एक वैकल्पिक अख़बार हो या अंग्रेज़ी में हो? मुझे तो लगता है ये बिल्कुल संभव भी है। आज टेक्नॉल्जी ने ही डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म मेकिंग को पूरी तरह से पलट कर नहीं रख दिया है। कुछ हमारी नज़र भी छोटी है, हम सब इतने ऐटॉमिस्टिक हैं कि हरेक आदमी समझता है कि ये ऐसा ही है, हम देखेंगे, दस आदमी पढ़ेंगे। तो ऐसा कोई दूरदर्शी दिखायी नहीं देता कि चलो यार हिन्दी का बढ़िया-सा अख़बार निकालते हैं, साप्ताहिक अख़बार होगा, प्रोग्रेसिव, रैडिकल विकल्प होगा। आप मुझे बताइए क्या उसके एक लाख ख़रीदने वाले नहीं होंगे जो दस या पंद्रह रुपए का वैसा एक अख़बार पढ़ें, क्या उसमें विज्ञापन से पैसे नहीं मिलेंगे, उसके लिए आपको दो-तीन करोड़ रुपए की जो लागत चाहिए, कोई इन्वेस्टर उसमें डालने को तैयार नहीं होगा? कमी हममें है कि अपनी इंटिग्रीटी को प्रॉटेक्ट करते-करते इतने सिमट जाते हैं कि हम समझते हैं कि ये जो सिमटी हुई दुनिया है वही काफ़ी है। मैं समझता हूँ कि थोड़ा-सा फ़र्क़ डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म मेकिंग में अब पड़ा है क्योंकि इंडियन डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म मेकिंग को थोड़ा बाहर से भी हवा लगती

है, लोगों को कुछ प्रोत्साहन मिलते हैं। उनका आत्मविश्वास भी बढ़ता है। लेकिन मैं समझता हूँ कि आज की तारीख़ में इंडियन डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म मेकिंग में आत्मविश्वास है, यही आत्मविश्वास प्रिंट में होती, आ जाती ...! ये कॉन्फिडेंस देने वाली चीज़ नहीं है। खुद ही आपस में लोगों को ठानना है। तो मैं समझता हूँ कि 'देयर इज़ ए नीड फ़ॉर पब्लिकेशन, फ़ॉर ए वीकली'। पचास-साठ हज़ार कॉपीज़ क्यों नहीं बिकेंगी, एक लाख से ज़्यादा बिकेंगी लेकिन उसको चाबी करने वाला कोई नहीं है।

आज दिल्ली का टारगेट 2010 है। इससे पहले दिसंबर 1996 में सुप्रीम कोर्ट के एक फ़ैसले के कारण बड़े पैमाने पर फ़ैक्ट्रियाँ बंद हुईं। दस साल में तो ये दो मार्कर हमारे सामने हैं। तब प्रदूषण-मुक्त शहर के लिए और अब इसे लुभाऊ, चमकाऊ और कमाऊ बनाने के लिए। इस वजह से शहर का जितना चेहरा बन रहा है उससे कहीं ज़्यादा बिगड़ रहा है। क्या 'दिल्ली फ़िल्म आर्काइव' या फ़िल्ममेकर्स के किसी और ग्रुप के ध्यान में है इस तरह की चीज़ों को डॉक्यूमेंट करना क्योंकि केवल जानकारी के लिए नहीं बल्कि इतिहास के लिए भी, नहीं तो छूट जाएगा जैसे इमरजेंसी के दौरान छूट गया था?

बहुत बड़ी कमी है हममें, एक समूह के रूप में भी। जैसे, पूरी दिल्ली का जो मेट्रो है उसका क्या इम्पैक्ट रहा है, इसका पूरा लेखा-जोखा नहीं है हमारे पास। और ये तो बन गयी। मेट्रो की एक जो विज़्युअल हिस्ट्री है न ... कम-से-कम वीडियो में कोई फ़िल्म नहीं बनी इसकी। या दिल्ली में साइकलिस्ट के प्रति, मतलब दस लाख लोग हैं दिल्ली में ऐसे। पता है ये दिक़्क़त क्या है फ़िल्ममेकिंग की, एक अजीब-सा प्रेशर है कि अगर वो शहर में हो रहा है तो ये आपकी फ़िल्म के योग्य है ही नहीं। आपको जाना है क़स्बे में, कहीं दूर। नहीं, ये तो आपसे मैं बिल्कुल सहमत हूँ कि हमारी जो कंटेम्परेरी अर्बन हिस्ट्री है उसमें बहुत कम लोग काम कर रहे हैं। कुछ पहलू हैं इसके। ये फ़ंडिंग के साथ भी जुड़ा है, जैसे सेक्शुऑलिटी का मुद्दा है क्योंकि उसके लिए फंडिंग अवेलेबल है तो कई सारी फ़िल्में बनती हैं शहरों में। जैसे पिछले दस साल की दिल्ली की हिस्ट्री जो है, बहुत कम फ़िल्में बनी हैं दिल्ली के बारे, जो कुछ-कुछ डॉक्यूमेंटेशन हैं वो भी बहुत अपर्याप्त है। अब आपने देखा न, यमुना के किनारे खेल गाँव बनाने की इजाज़त नहीं मिली। एनवायरनमेंट क्लियरेंस नहीं मिला। अब क्या होगा उस जगह पर? भई यमुना का किनारा तो खाली करवा लिया। तो क्या होगा वहाँ? 'रिवर फ़्रॉन्ट लेज़र ज़ोन' के तौर पर उसको डेवेलप करेंगे। फिर मॉल्स और बड़े-बडे ...। भई, खेल गाँव बनता तो एक पब्लिक प्रॉपर्टी तैयार होती लेकिन ये लेज़र ज़ोन बनने से वो तो नहीं होगा। अब तो बड़े-बड़े बिल्डरों और तमाम तरह के लोगों की चाँदी होगी। तो हमें तो यही लगता है कि आम जनता से तो अब इस प्लानिंग का कोई सरोकार तो रहा नहीं। ये चीज़ें ज़रूर डॉक्यूमेंट होनी चाहिए। वीडियो में आनी चाहिए। लेकिन पता नहीं क्यों, कोई आगे नहीं आ रहा।

नोट :

1 एनएपीएम: नैशनल अलायंश ऑफ़ पीपुल्स मूवमेंट, देश भर में चल रहे जनांदोलनों का राष्ट्रीय समन्वय। नर्मदा बचाओ आंदोलन इसका एक प्रमुख घटक है।

लिप्यांतर: भावना